मुखौटा : आहार्य का अभिनय होना

नन्दकिशोर आचार्य

सामान्य तौर पर 'मुखौटा', 'मास्क' या 'चेहरा लगाने का सत्य, असलियत, यथार्थ या हकीकत पर एक झूठ का पर्दा डालना समझा जाता है-एक बनावट को हकीकत की तरह पेश करना। इसीलिए जब किसी व्यक्ति के बारे में कहा जाता है कि उसके कई चेहरे हैं या उसने शराफत का मुखौटा लगा रखा है तो इसे उसके बारे में एक निंदात्मक टिप्पणी ही माना जाता है। लेकिन कला की विचित्र चारित्रिकता तो इसी बात में है कि वह झूठ, छद्म अथवा बनावट के माध्यम से भी सत्य का, यथार्थ का, हकीकत का ही संप्रेषण करती है। कला मात्र-और इसलिए नाटक भी-अपने स्वरूप में एक बनावट है-चाहे यथार्थ का आभास देने वाली बनावट-यद्यपि उसके होने या रचे जाने का अर्थ ही सत्य का अनुभूत्यात्मक अन्वेषण और संप्रेषण है। भारतीय तत्व-चिंतन की शब्दावली में कहें तो यह एक प्रकार से माया के माध्यम से सत्य की अनुभूति है क्योंकि माया सृजनात्मकता है और उससे गुजरे बिना आत्मानुभूति संभव नहीं है। अंततः यह सृष्टि परम आत्म की स्वानुभूति का ही तो माध्यम है। इसलिए प्रत्येक सृजन माया है, पर, उससे गुजरने पर ही हम आत्मानुभूति कर सकते हैं।

इसीलिए नाटक या रंगमंच में बनावट को सत्य के अनुभूत्यात्मक अन्वेषण और संप्रेषण का माध्यम होने की हैसियत प्राप्त है। रंगमंच या नाटक के लिए मुखौटा एक बनावट होते हुए भी सत्य या हकीकत की अनुभूति और अभिव्यक्ति की एक विधि है-इस तथ्य की पहचान सभी प्रकार के रंगमंचों को प्रारंभ से ही रही है। पश्चिम में नाटक या रंगमंच का प्रारंभ यूनान से माना जाता है। यूनानी देवता डायोनिशस के उत्सवों से ही 'ट्रेजेडी' और लिंग-पूजा संबंधी उत्सवों से कॉमेडी का विकास हुआ है। यह कथन स्वयं अरस्तू द्वारा दिया गया है। इन दोनों ही प्रकार के उत्सवों में 'मुखौटे' या 'चेहरे लगाने की परिपाटी थी और उसी से आगे चल कर अभिनेता के मुँह पर मुखौटे लगाने की परंपरा विकसित हुई। प्राचीन यूनानी नाटकों के प्रदर्शन में पहले एक और बाद में दो या तीन अभिनेता विभिन्न पात्रों के मुखौटे लगा कर अभिनय किया करते थे। एक अभिनेता कई पात्रों का अभिनय करता था, इसलिए वह मंच पर उन पात्रों के 'मुखौटे' या 'चेहरे' लगा कर आता था। यह मुखौटा या चेहरा जहाँ दर्शक-समूह तक विभिन्न पात्रों को संप्रेषित करता था, वहीं स्वयं अभिनेता के लिए भी उस पात्र को अपने में आहूत और अनुभव करने का उपकरण बन जाता था। यह परंपरा रोमन रंगमंच और यूरोप के कई लोकरंगमंचों में भी अपनी प्रभावपूर्ण उपस्थिति और उपयोग दर्ज कराती है चाहे वह इटेलिन प्रहसन हो या पेंटोमाइम।

प्राच्य रंगमंच की कई शैलियों में भी मुखौटे या चेहरे का प्रयोग होता था। जापान की नोह शैली में 'चेहरा' एक अनिवार्य तत्व है, जबकि 'काबुकी' में चेहरे की जगह अब मुँह रँगने का प्रयोग होने लगा है, जो प्रकारांतर से 'मुखौटे' या 'चेहरे' का ही आभास देता है। प्राचीन चीनी रंगमच में भी मुँह की रंगाई इस प्रकार

की जाती थी कि वह 'चेहरे की प्रतीति करवा सके। अलग-अलग प्रकार के चरित्रों को व्यंजित करने के लिए अलग-अलग रंगों का इस्तेमाल किया जाता था। भारत के लोकरंगमंच में कई शैलियों में चेहरों का इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन संस्कृत रंगमंच और यक्षगान, कूडिअट्टम, कथकलि आदि में मुँह को इस प्रकार रंगा जाता और सजाया जाता है कि वह 'चेहरे' या 'मुखौटे' जैसा प्रतीत होने लगे। स्पष्टतः 'मुखौटे' या 'चेहरे लगाने अथवा चेहरे का आभास देने के लिए मुँह को रंगने से प्रस्तुत चरित्र यथार्थ जीवन से तो कुछ दूर चला ही जाता है और इस तरह प्रेक्षक अभिनेता की दुनिया को एक साक्षी भाव के साथ देख सकता है। कह सकते हैं कि इससे अभिनय में भी एक किस्म की निर्वैयक्तिकता संभव हो जाती है, जो अभिनय की उत्कृष्टता के लिए जरूरी है क्योंकि वैयक्तिक शैली उत्कृष्ट अभिनय या एक अभिनेता द्वारा विभिन्न पात्रों की प्रभावी प्रस्तुति के लिए एक बाधा बन जाती है। लेकिन, दूसरी ओर मुखौटे का होना भी अभिनय की संभावना को एक हद तक सीमित कर देता है क्योंकि उसके मुँह पर लगे होने की वजह से मानवीय भावों की अभिव्यक्ति केवल 'वाचिक' अथवा पद-संचालन और हस्त-संचालन से ही हो सकती है। भौंहों, नेत्र या मुखमुद्राओं आदि का प्रयोग संभव नहीं रहता। भरतमुनि की शब्दावली में कहें तो इस विधि में वाचिक, आहार्य और एक सीमा तक ही आंगिक अभिनय संभव होता है। सूक्ष्म आंगिक और सात्विक अभिनय इसमें संभव नहीं हो पाते। संस्कृत रंगमंच सात्विक अभिनय को केंद्र में रखता है। इसीलिए वहाँ मुखौटे या चेहरे का प्रयोग करने के बजाय मुँह की रंगाई और सज्जा से 'चेहरे का आभास उत्पन्न किया जाता है ताकि 'चेहरे से पूरा होने वाला प्रयोजन भी सध सके और नेत्राभिनय जैसी सूक्ष्म आंगिक क्रियाओं तथा सात्विक अभिनय के लिए भी पूरी गुंजाइश बनी रहे। लेकिन 'मुखौटे' या 'चेहरे का प्रयोग अथवा चेहरे का आभास देने के प्रयोजन से मुँह को रंगने की रीति इस बात को भी स्पष्ट कर देती है कि हमारी परंपरा में 'आहार्य' को भी अभिनय का एक प्रकार क्यों माना गया है? 'आहार्य' तो वस्तुतः सामग्री या उपकरण हैं, जिन्हें मंचन की सुविधा या अभिनय में सहायता के लिए इस्तेमाल किया जाता है। उसे अभिनय की ही हैसियत दे देना कहाँ तक वैध है? उसकी वैधता इस बात में निहित है कि उसके माध्यम से ही तो अभिनेता उस पात्र को अपने में आहूत और अनुभव करता है, जिसका अभिनय उसे करना है इसलिए वह भी उसी तरह के अभिनय का एक प्रकार है, जिस तरह उसकी देह के अंग-प्रत्यंग और उसकी वाणी-यहाँ तक कि उसकी चेतना भी, क्योंकि जब तक चेतना स्वयं अपने को किसी पात्र के रूप में अवतरित होते हुए नहीं देख पाती, तब तक वास्तविक और प्रभावशाली अभिनय संभव ही नहीं है, यही तो अभिनेता के आत्म की सृजनात्मक अनुभूति है। स्वयं के किसी अन्य में रूपांतरित होने के माध्यम से आत्मानुभूति की प्रक्रिया ही तो अभिनय है इसीलिए वह अभिनय होते हुए भी सत्य की अनुभूति और संप्रेषण है। इस दृष्टि से देह भी चेतना के लिए 'आहार्य' ही है। फिर भी यह सवाल बना रहता है कि वह क्या है जिसे सामान्य मानवीय चेहरे से व्यक्त नहीं किया जा सकता। जब हम 'मुखौटे' या 'चेहरे का प्रयोग करते हैं, तब वह सामान्यतः एक सामान्य मानवीय चेहरा नहीं होता। जब संस्कृत रंगमंच में मुँह को रंगा जाता है तो उसका प्रयोजन भी उसे सामान्य और वास्तविक जैसे लगने वाले मानवीय चेहरे से कुछ अलग दिखाना होता है। वह चेहरा कुछ आधि-प्राकृतिक या कहें कि मानवेत्तर लगने लगता है। यदि

नाटक का उद्देश्य सत्य, हकीकत या यथार्थ का अनुभूत्यात्मक अन्वेषण और संप्रेषण है तो उसके लिए मानवेत्तर जैसे लगने वाले चेहरे से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है?

दरअसल, सत्य या यथार्थ के कई स्तर और पहलू होते हैं और उन सबको किसी एक ही विधि से जाना या संप्रेषित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक सत्य या यथार्थ मानवगम्य तो होना चाहिए, होता भी है, लेकिन वह केवल ऐन्द्रिक यथार्थ से बाधित नहीं होता, बल्कि केवल ऐन्द्रिक यथार्थ को मानव-चेतना की आत्मानुभूति और अभिव्यक्ति की सीमां मान लेने पर यथार्थ सपाट और इकहरा हो जाता है जबकि वह वास्तव में इतना जटिल और संश्लिष्ट होता है कि कथित यथार्थवादी पद्धति से उसका अनुसंधान, प्रस्तुति और संप्रेषण संभव ही नहीं हो सकता। भाषा में भी इसीलिए केवल अभिधा सब कुछ जानने-कहने में समर्थ नहीं होती। लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का अधिष्ठान भाषा में इसीलिए किया गया है ताकि वह उस जटिल, बहुआयामी और बहुरूपी सत्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति में समर्थ हो सके, जो अभिधा की पहुँच से परे है। वक्रता, अलंकार अथवा बिंबों-प्रतीकों का प्रयोग केवल बाहरी सौंदर्य की रचना के प्रयोजन से नहीं होता, वह तभी सार्थक और वास्तविक अर्थों में सौंदर्यानुभूति करवाने में समर्थ होता है जब उसके माध्यम से हम उस सत्य से साक्षात्कार कर सकें, जो अभिधात्मक भाषा की पकड़ से बाहर रह जाता है। लक्षणा या व्यंजना अथवा बिंब-प्रतीक आदि केवल भाषा की अंतर्निहित शक्तियाँ ही नहीं हैं। प्रकार-भेद से उनकी उपस्थिति हर कला में देखी जा सकती है। जब नाटक या रंगमंच पर 'मुखौटे' जैसे उपकरणों या कहें कि 'आहार्य' अभिनय को महत्व दिया जाता है तो उसका वास्तविक प्रयोजन उस मानवेत्तर यथार्थ को मानवगम्य बनाना होता है जो मानव-चेतना से तो नहीं किंतु स्थूल मानवीय देह या मुखाकृति की सीमाओं से परे है।

आधुनिक विज्ञान का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी निष्कर्ष यह है कि यथार्थ की तद्वत-'एज सच'-पहचान संभव नहीं है। यह बताया गया है कि हम जिस किसी माध्यम से यथार्थ को जानने का उपक्रम करते हैं, उसका माध्यम होना ही यथार्थ के हमारे ग्रहण को, यथार्थ की हमारी पहचान को और इसलिए संप्रेषण को भी अनिवार्यतः प्रभावित करता है अर्थात हमारा जाना गया यथार्थ माध्यम से रूपांतरित यथार्थ है। यह बात जितनी विज्ञान के बारे में सच है उतनी ही कलाओं के संदर्भ में भी। इसलिए यथार्थ की पहचान की विभिन्न ऐन्द्रिक और भाषिक पहचानों की कोई एक विधि नहीं हो सकती। यदि माध्यम यथार्थ को नई पहचान देता अर्थात यथार्थ की नई रचना करता है तो मानना होगा कि बिंबों-प्रतीकों के माध्यम से जाना गया यथार्थ कहीं नहीं हो सकता, जो अभिधा से जाना गया यथार्थ होता है। यदि हर यथार्थ को यथार्थवादी पद्धति से जानना और संप्रेषित करना संभव हो पाता तो साहित्य या कलाओं में फैंटेसी के आविष्कार या प्रयोग की कोई सर्जनात्मक वैधता ही नहीं होती। यही बात नाटक या रंगमंच के बारे में भी कही जा सकती है। यदि केवल मानवाकृति के माध्यम से सब कुछ जाना और संप्रेषित किया जा सकता तो अभिनय के अन्य प्रकारों, विशेषतया वाचिक और आहार्य-की कोई जरूरत ही नहीं पेश आती, लेकिन बहुत कुछ है जो सामान्य मानवीय आकृति से इतर है। एक सीमा तक मानवीय मुख-मुद्राओं से उसे व्यंजित किया भी जा सकता है, लेकिन यह सीमा बहुत संकीर्ण और क्षणिक है। ऐसा

बहुत कुछ है जो मानवीय मुखाकृति की सीमाओं से परे है, किंतु मानवीय चेतना से परे नहीं और एक सीमा के बाद मानवीय मुखाकृति उसे सुदीर्घ अवधि तक संप्रेषित नहीं कर पाती। इसलिए मुखौटों या चेहरों के इस्तेमाल की सर्जनात्मक अनिवार्यता महसूस होती है, जिसके बिना हम नाट्यात्मक या अभिनय संभव यथार्थ के कई स्तरों और पहलूओं से अपरिचित रह जाने को विवश हो जाते हैं। इसलिए मुखौटा केवल उपकरण नहीं है, वह एक अभिनय-विधि है-आहार्य के अभिनय होने की वैधता का प्रमाण।

नन्दकिशोर आचार्य

नाटककार, आलोचक एवं अनुवादक